एक्ज़िम बैंक
EXIM BANK
भारतीय निर्यात-आयात बैंक
EXPORT-IMPORT BANK OF INDIA

केन्द्र एक बिल्डिंग, 21वीं मंज़िल, विश्व व्यापार केन्द्र कॉम्प्लेक्स,
कफ़ परेड, मुंबई -400 005.
फोन: (022) 2217 2600 I फैक्स: (022) 2218 2572
ई-मेल: cag@eximbankindia.in I www.eximbankindia.in

एक्ज़िम बैंक
EXIM BANK
भारतीय निर्यात-आयात बैंक
EXPORT-IMPORT BANK OF INDIA

एक्ज़िम बैंक स्थापना दिवस
वार्षिक व्याख्यान 2013

व्यापार और विकास का सिद्धांत : भारतीय परिप्रेक्ष्य

प्रो. प्रणब बर्धन

वाय. बी. चव्हाण सेंटर,
जनरल जगन्नाथ भोसले मार्ग,
मुंबई 400 021 में
गुरूवार, 14 मार्च, 2103 को
आयोजित यह 28वीं एक्ज़िम बैंक स्थापना दिवस
वार्षिक व्याख्यान है।

इस व्याख्यान का कोई भी अंश भारतीय एक्ज़िम बैंक की पूर्वानुमति के बिना पुनर्प्रकाशित नहीं किया जा सकता।
इस व्याख्यान में व्यक्त किए गए विचार और निर्वचक लेखक के हैं और वे भारतीय एक्ज़िम बैंक पर आरोप्य नहीं है।

एक्ज़िम बैंक
EXIM BANK
भारतीय निर्यात-आयात बैंक
EXPORT-IMPORT BANK OF INDIA

व्यापार और विकास का सिद्धांत : भारतीय परिप्रेक्ष्य

प्रो. प्रणब बर्धन

प्रोफेसर ऑफ ग्रेज्यूएट स्कूल, डिपार्टमेंट ऑफ इकोनॉमिक्स
यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, बर्कले

व्यापार और विकास का सिद्धांत : भारतीय परिप्रेक्ष्य

प्रो. प्रणब बर्धन
प्रोफेसर ऑफ ग्रेज्यूएट स्कूल, डिपार्टमेंट ऑफ इकोनॉमिक्स
यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, बर्कले

देवियों और सज्जनों, आपको संबोधित करते हुए मुझे बहुत खुशी हो रही है। एक्ज़िम बैंक में कई वर्ष पहले भी मुझे व्याख्यान देने का अवसर प्राप्त हो चुका है और आज एक बार फिर से आप सभी के सामने उपस्थित होकर और एक्ज़िम बैंक की प्रगति देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है। मेरा आज का विषय है – व्यापार तथा विकास का सिद्धांत: भारतीय परिप्रेक्ष्य।

जैसा कि आप सब जानते हैं व्यापार तथा विकास का सिद्धांत संभवत: अर्थशास्त्र की सर्वाधिक पुरानी शाखाओं में से एक है। यहाँ तक कि अगर आप एडम स्मिथ सहित किसी भी प्राचीन अर्थशास्त्री को लें, व्यापार तथा विकास उनकी पहली प्राथमिकता था। कुछ पुराने अर्थशास्त्री उस समय भी इसके बारे में लिख रहे थे जब ब्रिटेन विकासशील देश था तथा उस समय औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया से गुजर रहा था। तबसे लेकर आज तक व्यापार नीति तथा विकास पर काफी कुछ लिखा जा चुका है।

ब्रिटिश औद्योगिक क्रांति के बाद कई अन्य देशों में भी औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात हुआ; इन सभी देशों में ब्रिटेन में प्रारंभिक दौर में शुरू हुई व्यापार नीति एवं विकास के प्रति अधिक रुचि बनी रही। उदाहरण के लिए अमेरिका में अमेरिकी संविधान के जनकों में से एक अलेक्जेंडर हैमिल्टन ने यूएस काँग्रेस में 1791 में विनिर्माणों पर एक रिपोर्ट प्रस्तुत की; यह मुख्यत: एक अमेरिकी पॉलिसी दस्तावेज़ था जिसे ब्रिटेन से मिल रही प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने के

लिए बनाया गया था। इसी प्रकार उन्नीसवीं सदी के मध्य में जैसे ही जर्मनी में औद्योगिकीकरण प्रारंभ हुआ फ्रीडरिच लिस्ट नामक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ने जर्मनी की आर्थिक नीति के बारे में लिखा कि ब्रिटेन के आगे निकल जाने की दशा में जर्मनी को क्या करना चाहिए? पूर्वी यूरोप में भी 19वीं तथा 20वीं सदी के प्रारंभ में कई अर्थशास्त्री ने 'व्यापार नीति' के बारे में लिखा। भारत में विशेषकर इस पश्चिमी भाग में एम. रानाडे ने औद्योगिकीकरण की आवश्यकता तथा आवश्यक व्यापार नीति के स्वरूप के बारे में लिखा।

हाल के वर्षों में अर्थशास्त्र के अधिकांश साहित्य का झुकाव व्यापार तथा विकास के सिद्धांत सहित तथाकथित नव-विकास के परिणामों पर रहा है और इस नव-विकास अवधारणा से उपजी संकल्पना की विभिन्न देशों के आंकड़ों से पुष्टि की गई है। विकास की इस नई संकल्पना पर 1990 के आरंभिक दौर से ही बहस प्रारंभ हो गई थी किंतु यदि आप इन 7-8 वर्षों में व्यापार एवं विकास से संबंधित साहित्य को देखें तो उसमें बहुत परिवर्तन आया है और मैं अपने इस व्याख्यान की शुरूआत इस परिवर्तन से ही करूंगा। यह परिवर्तन अब मैक्रो से लेकर माइक्रो स्तरों तक है।

माइक्रो अध्ययन पर हालिया जोर अथवा व्यापार एवं विकास के बीच संबंधों से उभरे माइक्रो तथ्य आर्थिक निष्पादन को प्रभावित करने वाली व्यापार नीति को कई चैनलों से परखते हैं। यह मुख्यत: फर्म स्तर अथवा उद्योग स्तर पर किया जाता है और आज का मेरा अधिकांश व्याख्यान इस स्तर के बारे में ही है। भारत में माइक्रो स्तर पर बहुत कम काम हुआ है। हालांकि मैक्रो स्तर पर कुछ अध्ययन हुए है किंतु माइक्रो इम्पीरिकल (सूक्ष्म आनुभविक) स्तर पर नगण्य काम हुआ है। पिछले कुछ वर्षों से सौभाग्यवश विदेशों में कुछ नया कार्य (इम्पीरिकल वर्क) जरूर हो रहा है जिसमें भारत का डेटा लिया गया है और मैं उसी में से कुछ का उल्लेख करूंगा।

सबसे पहले मैं क्या कहना चाहता हूँ उसके बारे में आपको बता दूँ। मैं फर्म के अंदर उत्पादकता परिवर्तन के बारे में कुछ बातें कहूँगा वह भी मैक्रो स्तर पर नहीं

यहाँ तक कि यह क्षेत्र स्तर पर भी नहीं होंगी। मैं यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि फर्म के अंदर किस प्रकार व्यापार नीति उत्पादकता को प्रभावित करती है। मैं औद्योगिक नीति के परिणाम के रूप में 'करके सीखो' नीति के सापेक्ष इस पर चर्चा करूंगा। इसके साथ ही मैं उत्पाद गुणवत्ता तथा फर्म के अंदर उत्पादकता वृद्धि पर भी कुछ कहना चाहूँगा। समग्रत: ये सारे विचार फर्म की उत्पादकता वृद्धि के इर्द-गिर्द होंगे। मैं उद्योग स्तरीय उत्पादकता के बारे में भी बात करूंगा विशेषकर बाजार हिस्से के पुनराबंटन से यह किस प्रकार परिवर्तित होती है तथा व्यापार किसी उद्योग की समग्र उत्पादकता को किस प्रकार बढ़ा सकता है। हालांकि यह जरूरी नहीं है कि इससे गरीबी दूर करने में मदद मिले फिर भी मैं समझता हूँ कि भारत में इस मुद्दे पर बहस करना महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

इस संदर्भ में मैं यह भी कहना चाहूँगा कि भारत में व्यापार नीति और श्रमिक बाजार अध्ययनों के एकीकृत विश्लेषण पर कुछ और काम किया जाना शेष है। इसके बाद उदाहरणों के जरिए मैं यह सिद्ध करूँगा कि विशेष रूप से भारत में फर्म के अंदर उत्पादकता वृद्धि बाजार पुनराबंटन के बजाए बाजार उदारीकरण का अधिक परिणाम रही है; और मैं इसके संभावित कारणों पर भी चर्चा करूंगा।

अंत में मैं व्यापार से उत्पन्न लाभों को बांटने पर भी कुछ कहना चाहूँगा। लाभों को बांटने से मेरा तात्पर्य है- विकासशील तथा विकसित देशों के बीच लाभों को बांटना और कभी-कभी एक ही देश के विभिन्न समूहों के बीच लाभों को बांटना। इसके साथ ही मैं अंतरराष्ट्रीय बाजार में मार्केटिंग, बिचौलिया मार्जिन तथा गुणवत्ता पर भी कुछ कहना चाहूँगा। इस प्रकार समग्रत: यही कुछ मुद्दे हैं जिन पर मैं आपके समक्ष अपनी बात रखना चाहूँगा।

तो आइए सबसे पहले हम 'करके सीखो (लर्निंग बाय डुइंग)' सिद्धांत पर चर्चा करें। इसके बारे में बहुत सारा साहित्य उपलब्ध है। जैसा कि मैंने पहले उल्लेख किया था कि यह हमारे अर्थशास्त्रीय साहित्य में बहुत पहले से विद्यमान है। अलेक्जेंडर हैमिल्टन के समय से... अर्थात लगभग 2 शताब्दी पहले से। हालांकि

उन्होंने 'करके सीखो' अभिव्यक्ति का प्रयोग तो नहीं किया किंतु मुख्य रूप से उन्होंने इसके बारे में अमेरिका में बात की थी जहां उस समय ब्रिटिश प्रतिस्पर्धा को कड़ी टक्कर देने के लिए अमेरिकी फर्मों को कुछ छूट प्रदान की गई थी।

तकनीकी परिवर्तन के सिद्धांत में आसानी से मापे जाने वाले व अंतरणीय तकनीकी ज्ञान तथा उसके कार्यशील प्रकार को अच्छी प्रकार स्पष्ट किया गया है। पहला आपको एक ब्लूप्रिंट देता है तथा उसके जरिए आप चीजों को कैसे करना है यह सीखते हैं। आप उसे करके नहीं सीखते हैं। आप उसे पढ़कर अथवा उसकी झेरॉक्स प्रति कर और उसका अध्ययन कर सीखते हैं। यह एक अलग प्रकार का ज्ञानार्जन है; किंतु ज्ञानार्जन का दूसरा महत्वपूर्ण तरीका है उसे व्यवहार में लाकर सीखना अर्थात करके सीखना। इसमें ऑन-दि-जॉब प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है तथा इसे सीखने में अधिक समय भी लगता है ताकि पूर्व में हुई गलतियों के दुहराव से बचा जा सके किन्तु यह हमें अधिक उत्पादक बनाता है। इस पर विकसित देशों में कई अनुभवजन्य (इम्पीरियल) अध्ययन किए गए हैं। विकासशील देशों में 'करके सीखो' का सबसे अच्छा उदाहरण जिसे लोग उद्धृत करते हैं, वह है पूर्वी एशिया की सफलता की कहानी। दक्षिण कोरिया 'करके सीखो' नीति का एक बेहतरीन उदाहरण है। साठ के दशक में दक्षिण कोरिया स्टील का उत्पादन करना चाहता था और इसके लिए उसने विश्व बैंक से ऋण मांगा। विश्व बैंक का यह विचार था कि कोरिया के पास स्टील उत्पादन करने की प्रतिस्पर्धी क्षमता नहीं है क्योंकि इसके पास लौह अयस्क तथा कोयले जैसे मूल संसाधनों की कमी है। किंतु कोरिया ने हार नहीं मानी तथा लौह अयस्क और कोयले का आयात कर स्टील का उत्पादन प्रारंभ कर दिया। कुछ ही वर्षों में कोरिया स्टील की कुछ किस्मों के उत्पादन में विश्व के सर्वाधिक बेहतरीन उत्पादकों में से एक बन गया था। यह 'करके सीखो' सिद्धांत का एक बेहतरीन उदाहरण है। हालांकि इस सिद्धांत को अपनाकर कुछ मामलों में जहाँ कोरिया को सफलता मिली वहीं कुछ मामलों में उसे असफलता का भी सामना करना पड़ा। उदाहरण के लिए भारी रसायन उद्योग के मामले में उसकी यह नीति सफल नहीं

रही। खैर पूर्वी एशिया की सफलता की कहानी के पीछे एक राजनैतिक पहलू भी है जिस पर मैं अवश्य जोर देना चाहूँगा और इसे मैं एक और पूर्वी एशियाई कहानी के जरिए स्पष्ट करूंगा।

रॉबर्ट वेड की 1990 में प्रकाशित पुस्तक 'गवर्निंग दि मार्केट' में मुझे एक बहुत ही रोचक उदाहरण मिला। यह अस्सी के दशक में ताइवान का उदाहरण था। वह वी सी आर अर्थात वीडियो कैसेट रिकॉर्डर का जमाना था हालांकि आज इनका उपयोग कोई भी नहीं करता है; किंतु उस समय यह एक नया इलेक्ट्रॉनिक प्रोडक्ट था। उस समय ताइवान के वी सी आर निर्माता अग्रणी जापानी कंपनी सोनी के उत्पादों का मुकाबला नहीं कर पा रहे थे। इसलिए वी सी आर विनिर्माता सरकार के पास गए तथा इस उद्योग को बचाने की गुहार लगाई। ताइवानी सरकार ने इसके लिए हाँ कह दी किंतु उन्होंने कहा कि यह मदद केवल कुछ समय के लिए ही प्रदान की जाएगी तथा इस दौरान यदि ताइवानी उद्योग सोनी का मुकाबला करने में स्वयं को सक्षम नहीं बना पाता है तो सारी सुविधाएं वापस ले ली जाएंगी। वी सी आर उद्योग को 18 महीने का समय दिया गया। दुर्भाग्यवश अन्य उद्योगों में बेहतर प्रदर्शन करने वाले ताइवान का वी सी आर उद्योग 18 महीनों के बाद भी सोनी से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सका।

इन 18 महीनों के बाद क्या हुआ उससे शायद विकासशील देशों में लोग परिचित नहीं होंगे। 18 महीनों के बाद जब ताइवानी वी सी आर विनिर्माता सोनी को नहीं पछाड़ सके तो सरकार ने दिए गए प्रोत्साहनों को वापस ले लिया। इसे राजनैतिक प्रतिबद्धता कहते हैं। कई देशों में उद्योग इन संरक्षणवादी प्रोत्साहनों को बढ़वाने के लिए दबाव बनाते हैं और इन्हें बढ़वा लेते हैं। यह भारत, अमेरिका तथा कई अन्य देशों में भी हुआ है। यह एक राजनैतिक दृढ़ इच्छाशक्ति का मामला है जिसे अर्थशास्त्र में 'क्रेडिबल कमिटमेंट' के तौर पर जाना जाता है। अर्थात अगर आपने एक बार 18 महीने की अवधि तय कर ली तो आपको उस पर दृढ़ रहना चाहिए। भारत में यह स्थिति नहीं है, आप जानते हैं कि एक बार सरकार ने सहायता दे दी

तो संकट के समय आप इसे किसी न किसी तरह बढ़वा ही लेंगें। इसलिए मेरा यह मानना है कि 'इनफैंट इंडस्ट्री प्रोटेक्शन' के अर्थशास्त्र के साथ राजनैतिक दृढ़ इच्छाशक्ति का सीधा संबंध है। हालांकि संरक्षणवादी साहित्य में इस राजनैतिक पहलू की अक्सर उपेक्षा कर दी जाती है।

भारत में किसी भी फर्म अथवा उद्योग के संबंध में 'करके सीखो' सिद्धांत पर बहुत ही कम अध्ययन हुआ है। किंतु मैं बाहर हुए कुछ हालिया अध्ययनों का यहाँ उल्लेख करना चाहूँगा। लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स के जॉन सटन की एक नई पुस्तक आई है - कम्पीटिंग इन कैपेबिलिटीज : दि ग्लोबलाइजेशन प्रोसेस (2012), जॉन सटन औद्योगिक संगठन पर एक सिद्धांतकार (थ्योरिस्ट) हैं किंतु उन्होंने भारत तथा चीन में कुछ गहन अनुभवजन्य (इम्पीरिकल) अध्ययन भी किए हैं। उन्होंने भारत तथा चीन दोनों देशों के कार उद्योगों का अध्ययन किया और यह पाया कि किस प्रकार अंतरराष्ट्रीय कार निर्माताओं के आते ही कुछ ही वर्षों में इन दोनों देशों में कार पुर्जों के निर्माताओं ने विश्वस्तरीय मानक (जिसे खराब पुर्जों के उत्पादन की दर से मापा जाता है) हासिल कर लिए।

कुछ उद्योगों में सीखने की दर (लर्निंग) अन्य उद्योगों की तुलना में काफी तेज रही है। कार उद्योग में इतने कम समय में सफलता हासिल कर लेने के दो कारण हैं पहला इस उद्योग में कई उत्पादन प्रक्रियाएं/कारोबारी व्यवहार अब मानक बन चुके हैं; दूसरा कार उद्योग में आपूर्ति श्रृंखला में सूचना का आदान-प्रदान और प्रोत्साहन अधिक व्यवस्थित और बेहतर है। भारतीय मशीन टूल उद्योग में विशेष रूप से इन्हीं दो चीजों की कमी ने सीखने की प्रक्रिया को धीमा और कठिन बनाया।

हालांकि भारतीय मशीन टूल उद्योग लर्निंग की एक अन्य विशेषता को प्रदर्शित करता है और वह है - गुणवत्ता; जो वैश्विक व्यापार के लिए बहुत जरूरी है। अंतरराष्ट्रीय व्यापार के अधिकांश विद्वान अंततः तुलनात्मक उत्पादकता को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसमें कुछ संदेह नहीं है कि उत्पादकता महत्त्वपूर्ण होती है

किंतु कभी-कभी न्यून उत्पादकता की भरपाई न्यून वेतन भुगतान के जरिए की जा सकती है और मैं आपको इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण भी दे सकता हूँ; किंतु यदि उत्पाद की गुणवत्ता निश्चित मानकों से कम है तो अंतरराष्ट्रीय ग्राहक इसे किसी भी कीमत पर नहीं खरीदेंगे। व्यापार का मानक सिद्धांत इस पर कुछ नहीं कहता है। उत्पाद की गुणवत्ता यदि निम्न स्तरीय है तो आपकी श्रम लागत कितनी भी कम क्यों न हों, अंतरराष्ट्रीय ग्राहक इसे नहीं खरीदने वाले। अंतरराष्ट्रीय व्यापार में गरीब देशों के लिए यह एक प्रमुख समस्या है जिस पर विद्वानों द्वारा बहुत कम ध्यान दिया गया है। श्री सटन भारतीय मशीन टूल उद्योग में बेसिक सी एन सी लेथ्स का उदाहरण देते हैं। नब्बे के दशक में व्यापार के उदारीकरण के बाद, ताइवान से आयातित मशीनरी भारतीय मशीनरी उद्योग का बाजार छीन रही थी। इसका मुख्य कारण निम्न उत्पादकता नहीं था। हालांकि ताइवानी मशीनरी उद्योग की उत्पादकता भारतीय मशीनरी उद्योग की उत्पादकता की 6 गुना अधिक थी और यह एक बड़ा अंतर था। किंतु ताइवानी मजदूरी भी भारतीय मजदूरी की तुलना में 8 गुना ज्यादा थी। इस प्रकार प्रति इकाई उत्पादन लागत भारत में कहीं कम थी। अत: हम कह सकते हैं कि ताइवानी उत्पादकता के अधिक होने के बावजूद उच्च श्रम लागत वहां एक समस्या थी। किंतु यह श्रम लागत सी एन सी लेथ मशीन टूल्स का लगभग 15% ही थी और प्रति इकाई लागत का लगभग आधा हिस्सा कम्प्यूटर नियंत्रित था। प्रोडक्शन इंजीनियरों के अनुसार भारतीय मशीनरी की गुणवत्ता ताइवानी मशीनरी तुलना में 3 प्रतिशत कम थी। इसका आकलन मशीनरी में खराबी के चलते व्यर्थ हुए मशीन घंटों की गणना के जरिए किया गया था। इस प्रकार हम देख सकते हैं मात्र 3 प्रतिशत की गुणवत्ता का अंतर भारतीय मशीन उद्योग के इतने बड़े बाजार को प्रभावित कर रहा था, इसका तात्पर्य यह हुआ कि भारतीय मशीनरी उद्योग में गुणवत्ता अवरोधक थी न कि श्रम उत्पादकता में बड़ा अंतर। अत: निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि गुणवत्ता ही प्रमुख मानक होती है जिस पर जोर दिया जाना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि यदि गुणवत्ता का स्तर बढ़ा दिया जाए तो अंतरराष्ट्रीय व्यापार में काफी लाभ कमाया जा सकता है क्योंकि श्रेष्ठ गुणवत्ता के साथ

आपका घरेलू बाजार के साथ-साथ पूरे विश्व का बाजार भी मिल जाता है। इसलिए गुणवत्तापरक उत्पादों के विनिर्माताओं के लिए वैश्वीकरण लाभदायक है। भारत फोर्ज इसी प्रकार का एक उदाहरण है जिसने फोर्जिंग के क्षेत्र में अच्छा नाम कमाया है। एक अन्य उदाहरण महिंद्रा एंड महिंद्रा की वाणिज्यिक वाहन इकाई का है। दुर्भाग्यवश सफलता की इन कहानियों को हम केवल बिजनेस अखबारों में पढ़ते हैं जबकि हमें इन फर्मों और इन उद्योग स्तरों पर गहन अध्ययन करना चाहिए। किंतु भारत में इसी की कमी है। अत: हमारे इस व्याख्यान का एक उद्देश्य यह भी है कि आप में से कुछ लोग उत्साहित होकर माइक्रो स्तरीय इम्पीरिकल अध्ययन करें जिस पर अन्य देशों में तो काफी काम हो रहा है लेकिन भारत में मात्र छिट-पुट काम ही हुआ है।

आइए अब देखें कि सीखने की इस प्रक्रिया का औद्योगिक नीति पर क्या प्रभाव पड़ता है? हालांकि पुराने साहित्य में इसे संरक्षणवाद (प्रोटेक्शनिज्म) अथवा अस्थाई संरक्षणवाद (टेम्परेरी प्रोटेक्शनिज्म) कहा गया था किंतु आज यह काफी जटिल है। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है - स्थानीय माल की जरूरतों संबंधी नीति, जो कार पुर्जा उद्योग का संरक्षण करती है, अब डब्ल्यूटीओ नियमों के अनुसार गैर-कानूनी है। किंतु इसके बावजूद किसी न किसी प्रकार की सॉफ्ट औद्योगिक नीति हर जगह होती है। इसका उल्लेख ऐन हैरीसन तथा बर्कले में मेरे सहयोगी ऐंड्रयू रोड्रिक्स द्वारा सबसे पहले 2009 में हैंडबुक ऑफ डेवलपमेंट इकोनॉमिक्स में छपे एक आलेख में किया गया था। हमारा उद्देश्य घरेलू स्तर पर ऐसी समन्वयकारी नीतियों को बनाना है जो डब्ल्यूटीओ द्वारा अनुमोदित हों तथा बाजार में मूल्यों को विकृत न करें। इन नीतियों में नई गतिविधियों के लिए प्रोत्साहन सहित वृद्धिशील कौशल निर्माण तथा नई प्रौद्योगिकी को प्रोत्साहन; स्वयं सहायता व्यवसाय क्लस्टरों को सहायता, विनियमों और बुनियादी ढांचे में सुधार आदि प्रमुख हैं। इसके साथ ही हमें यह ध्यान रखना होगा कि संरक्षणवादी पुरानी नीतियाँ अब उन उद्योगों के लिए अप्रचलित हो चुकी हैं जो केवल वैश्विक आपूर्ति श्रृंखला के नेटवर्क में ही सफल हो सकते हैं ।

और यह अंतरराष्ट्रीय व्यापार में सबसे बड़ा परिवर्तन हुआ है। यदि कोई आपसे पूछे कि पिछले 10-15 वर्षों में अंतरराष्ट्रीय व्यापार में क्या परिवर्तन हुआ है तो उसका उत्तर एक ही होगा कि आज राष्ट्रीय उत्पाद जैसी कोई संकल्पना नहीं बची है। आज हर चीज वैश्विक आपूर्ति श्रृंखला से आती है। संयुक्त राष्ट्र के डेट्रायट में निर्मित एक कार अमेरिकन कार कहलाती है पर वास्तव में क्या वह अमेरिकन कार है? कार का 20 फीसदी से अधिक हिस्सा बाहर बनता है। अंतरराष्ट्रीय व्यापार नीति काफी दिनों से 'हम' बनाम 'वे' के बारे में रही है। अब समय बदल चुका है। अंतरराष्ट्रीय उत्पादन का पैटर्न अब इतना बदल चुका है कि आर्थिक राष्ट्रवाद के पुराने नारे फीके पड़ गए हैं। इस नए अंतरराष्ट्रीय व्यापार पैटर्न का सबसे सफल प्रयोक्ता चीन रहा है। चीन ने आपूर्ति श्रृंखला (सप्लाई चेन) का सबसे अधिक और बेहतरीन उपयोग किया है।

अब हम उत्पादकता वृद्धि पर आयातित निविष्टियों के प्रभाव की बात करते हैं। विकास के नए सिद्धांत ने इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि नई और आयातित निविष्टियों तक पहुँच से व्यापार में लाभ हुआ है। पहले न तो यह सुविधा उपलब्ध थी और न इतने प्रकार के नए उत्पाद ही थे। मैं आपको यहाँ भारत के बारे में हुए कुछ काम का हवाला देना चाहूँगा जो भारत से बाहर हुआ है किंतु इस अध्ययन में भारत के आंकड़ों का प्रयोग किया गया है। यह बड़ी कंपनियों का प्रॉवेस डेटासेट है जिसे सी एम आई ई (सेंटर फॉर मॉनीटरिंग इंडियन इकोनॉमी) द्वारा इकट्ठा किया गया है। इन आंकड़ों की सहायता से क्वार्टरली जनरल ऑफ इकोनॉमिक्स के 2010 अंक में गोल्ड बर्ग, खंडेलवाल, पावनिक तथा टोपलोवा ने एक पेपर प्रस्तुत किया जिसमें भारत में 1990 में आए टैरिफ शुल्कों में बदलाव/कमी के प्रभावों का अध्ययन किया गया है। इसमें यह दिखाया गया है कि नई आयातित निविष्टियों तक पहुँच के चलते व्यापार से काफी फायदा हुआ है। उदारीकरण के बाद आयातित उत्पादों के व्यापार में दो तिहाई वृद्धि हुई है। जबकि उदारीकरण से पहले इनका बिल्कुल आयात नहीं किया जाता था। व्यापार उदारीकरण के बाद नए उत्पादों के विकसित होने का कारण नई आयातित

निविष्टियों की उपलब्धता थी। एक अन्य अध्ययन के अनुसार निविष्टियों पर कम टैरिफ के चलते घरेलू फर्मों द्वारा लगभग 31% नए उत्पाद तैयार किए गए जिसका योगदान आयातित निविष्टियों की उपलब्धता को ही जाता है। निविष्टियों पर टैरिफ में कमी से टोटल फैक्टर प्रोडक्टिविटी (टी एफ पी) तथा शोध एवं विकास (आर एंड डी) जैसे क्षेत्रों पर भी प्रभाव पड़ा। इन्हीं लेखकों ने रिव्यू ऑफ इकोनॉमिक्स एंड स्टेटिस्टिक्स 2011 में उन्हीं आंकड़ों की मदद से यह दिखाया कि भारत में कई किस्मों के उत्पादों को तैयार करने वाली फर्मों में उच्च मूल्य वाले उत्पाद की ओर अधिक ध्यान देने से फर्मों की उत्पादकता में वृद्धि बहुत प्रभावी नहीं रही। कुछ लैटिन अमेरिकी देशों के अध्ययनों में तो यह प्रभावी थी किंतु भारत के मामले में इतनी प्रभावी नहीं थी।

औद्योगिक उत्पादकता क्या है और व्यापार उदारीकरण के साथ यह कैसे बढ़ जाती है, इसे समझने का एक और तरीका है कि उद्योग के अंदर व्याप्त बाजार पुनराबंटन को समझा जाए। व्यापार उदारीकरण न्यून उत्पादकता वाली और अकुशल फर्मों को जहाँ प्रतिस्पर्धा से बाहर कर देता है वहीं बड़ी और कुशल कंपनियों के लिए यह प्रोत्साहक की भूमिका निभाता है। अत: किसी उद्योग विशेष के अंदर बाजार का पुनराबंटन उस उद्योग की उत्पादकता को प्रभावित करने वाला प्रमुख कारक होता है। भारतीय विनिर्माण क्षेत्र के संबंध में इसके साक्ष्य के रूप में जर्नल ऑफ इंटरनेशनल इकोनॉमिक्स 2011 में मेरी एक छात्रा शांति नटराज द्वारा बर्कले में एक पेपर भी प्रकाशित हुआ है। उसने दो स्रोतों से आंकड़ें इकट्ठे किए-एक संगठित क्षेत्र की फर्मों के लिए ए एस आई डेटा (उद्योगों का वार्षिक सर्वेक्षण) और दूसरा उससे बड़े असंगठित क्षेत्र की विनिर्माण फर्मों के लिए राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (एन एस एस) डेटा। इन दोनों डेटा सेट की मदद से संगठित तथा असंगठित दोनों क्षेत्रों की विनिर्माण इकाइयों का अध्ययन करने पर कुछ रोचक तथ्य सामने आए; पहला तो यह कि भारत में 1989 से 1999 के बीच टैरिफ में औसतन 50 प्रतिशत की कमी से उत्पादकता में 15 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किंतु फर्म साइज वितरण काफी संकुचित था जिसके

चलते व्यापार उदारीकरण के समायोजनों का खामियाजा अनौपचारिक या असंगठित क्षेत्र की फर्मों को भुगतना पड़ा तथा कड़ी प्रतिस्पर्धा ने निम्न उत्पादकता वाली कई फर्मों को खत्म कर दिया। परिणाम स्वरूप उद्योग क्षेत्र की औसत उत्पादकता बढ़ गई। पर क्या इससे हमें गरीबी तथा व्यापार के बीच संबंधों का पता चलता है? इस प्रश्न को दूसरे ढंग से यूँ रखा जा सकता है कि न्यून उत्पादकता वाली फर्में तो प्रतिस्पर्धा के चलते समाप्त हो गई पर उन लोगों का क्या हुआ जो इनमें काम करते थे? नटराज के पेपर में इसका कोई जिक्र नहीं है क्योंकि उनके पास इससे संबंधित आंकड़े/जानकारी उपलब्ध नहीं थी।

न्यून उत्पादकता वाली इन फर्मों में काम करनेवाले अधिकांश लोग निश्चित रूप से गैर-व्यापारिक क्षेत्र में चले गए होंगे क्योंकि व्यापार क्षेत्र ही प्रतिस्पर्धा का सामना कर रहा था, गैर-व्यापारिक क्षेत्र नहीं। गैर-व्यापारिक क्षेत्र अथवा अनौपचारिक क्षेत्र में इन व्यक्तियों के आ जाने से इस क्षेत्र की औसत उत्पादकता में गिरावट आई। इसलिए यद्यपि विनिर्माण क्षेत्र की औसत उत्पादकता में वृद्धि हुई किंतु इसका खामियाजा अन्य क्षेत्रों को भुगतना पड़ा। जिन लोगों की नौकरी गई उनकी स्थिति तो खराब हुई ही साथ ही यदि हम केवल उत्पादकता पर ही फोकस करें तो भी पूरी अर्थव्यवस्था की औसत उत्पादकता में गिरावट आई अथवा दर्ज की गई वृद्धि उतनी नहीं हुई जितनी कि अन्यथा होनी चाहिए थी। भारत में इस समस्या का सटीक अध्ययन और अनुमान करने के लिए हमारे पास पर्याप्त आंकड़े नहीं हैं। बर्कले में मेरी एक अन्य जर्मन छात्रा मार्क मुंडलर ने एक ब्राजीलियाई सह लेखक मेंजेज फिलो के साथ मिलकर ब्राजील में इसी प्रकार की समस्या पर अध्ययन किया है। उन्होंने अलग-अलग नौकरियों में कामगारों तक पहुँचने का प्रयास किया। ब्राजील में उपलब्ध आंकड़ें 1990 में प्रारंभ हुए व्यापार उदारीकरण से प्रभावित हर एक कामगार तक पहुँचने में आपकी मदद करते हैं। उनके अध्ययन के परिणाम यह बताते हैं कि टैरिफ में कमी से श्रमिकों का व्यापार क्षेत्र से सेवा क्षेत्र में विस्थापन होता है तथा इससे बेरोजगारी बढ़ने के साथ-साथ एक बड़ी श्रम शक्ति एक साथ उस क्षेत्र से बाहर हो जाती है। यह पेपर 2010 एन बी ई आर पेपर के रूप में प्रकाशित हुआ था।

अतः यह जरूरी नहीं कि ग्लोबलाइजेशन सदैव गरीबों के हित में ही हो और जरूरी नहीं कि हमेशा गरीबों के हितों के विरूद्ध हो। ऐसे मामले भी रिपोर्ट किए गए हैं जहाँ ग्लोबलाइजेशन के प्रभाव से गरीबों को मदद मिली है। इसका संबसे अच्छा उदाहरण बांग्लादेश में तमाम गरीब महिलाओं को गारमेंट उद्योग क्षेत्र में रोजगार मिला। किंतु इसके विपरीत भारत के विनिर्माण क्षेत्र का ग्लोबलाइजेशन गरीब समर्थक नहीं रहा। हालांकि व्यापार क्षेत्र में उत्पादकता में सुधार अवश्य आया। मेरे विचार से ब्राजील जैसा विस्तृत अध्ययन भारत में भी किए जाने की आवश्यकता है। इस संदर्भ में सर्वेक्षण आंकड़ों की भी आवश्यकता होगी। दुर्भाग्यवश हमारे किसी भी सर्वे में ऐसा डेटा इकट्ठा नहीं किया जाता है जिसमें कर्मचारी तथा नियोक्ता का रिकार्ड हो या जॉब-हिस्ट्री संबंधी फर्मस्तरीय रिकॉर्ड हो। यह काफी कुछ घरेलू पुनर्वितरण प्रणाली की राजनीति पर भी निर्भर करता है। क्योंकि मानक व्यापार सिद्धांत भी यही कहता है कि यदि नीतियों से उत्पादकता में वृद्धि होती है तो उसका लाभ सभी को मिलना चाहिए। यह कैसे हो सकता है? इसका एक ही तरीका है कि जिन्हें लाभ हुआ है उसका कुछ हिस्सा पुनर्वितरित किया जाए। लाभ प्राप्तकर्ता अपने लाभ के पुनर्वितरण के बाद भी लाभ की स्थिति में रहेंगे। यह प्राचीन अर्थशास्त्र का कल्याणकारी सिद्धांत है। किंतु दुर्भाग्यवश आज की वास्तविक दुनिया में ऐसे लोग कम ही मिलेंगे जो हानि उठाने वालों की अपने पास से क्षतिपूर्ति करें।

हैरिसन, मॉर्टिन तथा नटराज ने विश्व बैंक इकोनॉमिक रिव्यू के आगामी अंक में छपने वाले अपने एक लेख में ए एस आई फर्म स्तरीय आंकड़ों का इस्तेमाल करते हुए यह दिखाया है कि 1985 से 2004 के बीच उत्पादकता में अधिकांश सुधार सीखने (लर्निंग) के चलते हुए न कि न्यून उत्पादकता वाली फर्मों के प्रतिस्पर्धा से बाहर हो जाने अथवा अधिक उत्पादकता वाली फर्मों के आ जाने से। आंकड़ों से उन्होंने यह सिद्ध किया है कि उत्पादकता में सुधार मुख्य रूप से फर्मस्तरीय लर्निंग से ही उत्पन्न हुए न कि बाजार हिस्से के पुनराबंटन से, जिसका जिक्र हम पहले कर चुके हैं। ऐसा क्यूँ है? भारत में बाजार हिस्से का पर्याप्त पुनराबंटन क्यों नहीं हो रहा है? भारत में सीमित इंटर-फर्म पुनराबंटन का प्रमुख कारण जो दिया जाता है

वह है रोजगार की सुरक्षा से जुड़े कड़े श्रम कानून। यह कानून बाजार में परिवर्तन के अनुरूप फर्मों को अपनी श्रमशक्ति के समायोजन की सुविधा नहीं देते। इसलिए हम कह सकते हैं कि श्रम कानून बाजार स्थिति के अनुरूप कंपनियों के प्रतिस्पर्धा में आने अथवा बाहर जाने के लिए अवरोधक के रूप में कार्य करते हैं।

बिज़नेस मीडिया द्वारा अक्सर इस पर जोर दिया जाता है किंतु हैरिसन, मॉर्टिन तथा नटराज द्वारा प्रकाशित लेख, जिसका मैंने अभी जिक्र किया था, यह प्रदर्शित करता है कि आर्थिक सुधारों को अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग स्तर के श्रम कानूनों के कार्यान्वयन के बावजूद भी फर्मों के बीच पुनराबंटन पर समान प्रभाव पड़ा। आप सब जानते हैं कि कुछ राज्यों में श्रम कानून ढिलाई से लागू किए जाते हैं तथा राज्य सरकार नौकरी से हटाए गए लोगों के बारे में अलग ढंग से सोचती है; जबकि कुछ राज्यों में बहुत कड़ाई है। किंतु हैरिसन, मार्टिन तथा नटराज को असंबद्ध फर्मस्तरीय आंकड़ों के आधार पर विभिन्न राज्यों में इंटर-फर्म पुनराबंटन के संबंध में बहुत अंतर नहीं लगा जबकि अलग-अलग राज्यों में श्रम कानूनों के कार्यान्वयन का स्तर अलग-अलग था।

श्रम कानूनों के बारे में मेरी अपनी अलग राय है। मैं कुछ कड़े कानूनों को लचीला बनाए जाने के पक्ष में हूँ किंतु कुछ सुविधाओं के साथ। हालांकि बिजनेस मीडिया द्वारा अक्सर इन चीजों की उपेक्षा कर दी जाती है। मैं यहाँ उन सुविधाओं का उल्लेख करना चाहूँगा। इस संदर्भ में मैं वस्त्र उद्योग का उदाहरण देना चाहूँगा जिसका मैंने अध्ययन किया है। इस उद्योग का उदाहरण देने का एक और कारण यह भी है कि यह सर्वाधिक श्रम गहन उद्योग है। यदि हम इस उद्योग को और विस्तारित कर पाए तो यह अकुशल गरीब मजदूरों को रोजगार दिलाने में सहायक होगा। भारत इस उद्योग क्षेत्र में सर्वाधिक पुराना तथा बड़ी संख्या में कुशल श्रम शक्ति रखने वाला देश है। इसके बावजूद यह इस क्षेत्र में विश्व में अपनी जगह नहीं बना पाया है। इस उद्योग में विश्व में पहला स्थान चीन का है तथा उसके बाद बांग्लादेश का है। बांग्लादेश के वस्त्र उद्योग ने भारत से कई गुना बेहतर प्रदर्शन किया है। मैंने भारतीय वस्त्र उद्योग के लिए संयुक्त रूप से दोनों फर्म स्तरीय

डेटाबेसों का अध्ययन किया–औपचारिक क्षेत्र के लिए एन एस आई डेटाबेस तथा अनौपाचारिक क्षेत्र के लिए एन एस एस डेटाबेस। श्रम कानून यह कहते हैं कि यदि आप 100 से ज्यादा लोगों को नियोजित करते हैं तो आपको किसी को भी निकालने के लिए सरकार से अनुमति लेनी पड़ेगी और यह अनुमति लेना प्राय: बहुत ही दु:साध्य होता है। अब मैंने सोचा कि यदि वास्तव में यह कानून ही एक बाधा है तो अधिकांश कंपनियों में कर्मचारियों की संख्या 100 से कम होनी चाहिए। किंतु मुझे स्कैटर डायग्राम में ऐसा कुछ भी नहीं मिला। इसके विपरीत मुझे 92 प्रतिशत ऐसी कंपनियाँ मिली जिनमें 8 से कम कर्मचारी काम कर रहे हैं। अब मेरे दिमाग में यह प्रश्न आया कि आखिर इन 8 कर्मचारियों वाली फर्मों को 50 कर्मचारी वाली फर्म बनने से किसने रोका है? इसमें तो कहीं श्रम कानून आड़े नहीं आ रहे हैं। श्रम कानून तो बड़ी संख्या में श्रमिकों को रखने पर ही लागू होंगे। इससे यह स्पष्ट होता है कि कम से कम वस्त्र उद्योग में छोटे–छोटे उद्यमों के लिए, जैसा कि आंकड़े बोलते हैं, श्रम कानून कहीं पर भी रूकावट नहीं डालते हैं। अगर कोई रूकावट हो सकती है तो वह बिजली की अनुपलब्धता हो सकती है। इसे ऐसे समझें – मान लीजिए कि आपकी फर्म में 8 कर्मचारी काम कर रहे हैं और आप इनकी संख्या 50, 40, या 30 करना चाहते हैं तो सबसे पहले आपको विभिन्न प्रकार के पावर उपकरणों में निवेश की जरूरत होगी। पहले तो आपकी फर्म में केवल एक बल्ब के लिए या सिलाई मशीनों के लिए ही बिजली की जरूरत होती थी किंतु अब 50 कारीगरों वाली यूनिट के रूप में इसे विस्तारित करने के लिए आपको नियमित रूप से बिजली की सप्लाई चाहिए जो कि देश के अधिकांश हिस्सों में नहीं है। यदि बिजली उपलब्ध है भी तो आपको वोल्टेज उतार–चढ़ाव रोकने के लिए उपकरण चाहिए नहीं तो आपकी सारी मशीनें जल जाएंगी। इसलिए मुझे लगता है कि बिजली एक बड़ा अवरोधक है। इसके साथ–साथ सड़कें, ऋण की उपलब्धता, प्रबंधकीय और संस्थागत प्रशिक्षण आदि अन्य अवरोध भी हैं जबकि हम केवल श्रम कानूनों का ही हौवा खड़ा करते रहते हैं।

मेरे विचार में श्रम कानूनों के लिए एक पैकेज डील होनी चाहिए। एक ओर जहाँ हायरिंग और फायरिंग को लचीला बनाया जाना चाहिए वहीं दूसरी ओर

कर्मचारियों तथा नियोक्ता द्वारा मिलकर ऐसा फंड बनाया जाना चाहिए जिसमें से बेरोजगार हुए लोगों को पर्याप्त रूप से क्षतिपूर्ति की जा सके। अभी तक किसी भी भारतीय राजनीतिज्ञ ने न तो इस प्रकार की किसी पैकेज डील के बारे में सोचा है और न ही कोई बात की है।

मीनू तिवारी द्वारा 2010 में किए गए वस्त्र उद्योग के अध्ययन में यह बताया गया है कि वस्त्र जैसे वैश्विक उद्योग में छिट पुट स्तर पर आपूर्तिकर्ताओं की ओर से कुछ नई पहलें की गई हैं जो श्रमिकों के अनुकूल नीतियों को अपनाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। इससे न केवल उत्पादकता बढ़ेगी बल्कि यह मिथक भी टूटेगा कि श्रम तथा पूँजी सदैव एक–दूसरे के विरोधी होते हैं। श्रम अनुकूल नीतियों ने उत्पादकता वृद्धि में योगदान किया है जिससे लेबर टर्नओवर कम होने के साथ–साथ उत्पाद गुणवत्ता और समय पर उत्पाद डिलीवरी करने में भी मदद मिली है। कुछ लोग हालांकि श्रम कानूनों को लचीला बनाने का तात्पर्य यह लेते हैं कि यूनियन से मुक्ति। किंतु आज कई तरह की स्वतंत्र यूनियनें भी काम कर रही हैं। वस्त्र तथा टेक्सटाइल उद्योग के कर्मचारियों के लिए बंगलोर में काम करने वाले एन टी यू आई लेबर फेडरेशन इसी प्रकार की एक यूनियन है जो परिवर्तनों के लिए मध्यस्थता करती है तथा श्रमिकों के हितों को सुरक्षित रखनेवाली वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धी नीतियों को अपनाने पर बल देती है।

अंतत: अंतरराष्ट्रीय व्यापार सिद्धांत में काफी कुछ उत्पादन लागत पर निर्भर होता है। यह नि:संदेह महत्वपूर्ण है किंतु व्यापार से उत्पन्न लाभों को वितरित करने के निर्णय की तुलना में यह काम महत्वपूर्ण है। इस संबंध में मैं आपको दो उदाहरण देना चाहूँगा बॉर्बी डॉल अमेरिका में बच्चों की बहुत ही लोकप्रिय डॉल है। अमेरिकी स्टोर्स में यह 9.99 यू एस डॉलर में बिकती है। यदि आप उसे गौर से देखें तो आपको उसमें 'मेड इन चाइना' का टैग लगा मिल जाएगा। अब आप यह सोचिए कि चीन में बनी इस 10 यू एस डॉलर की डॉल से चीन को कितनी आमदनी हुई होगी। एक अनुमान के अनुसार इस डॉलर में से 65 सेंट चीनी कारीगर को, 35 सेंट कच्चे माल उत्पादक को जाता है कुल मिलाकर एक यू एस

डॉलर होता है। अर्थात इस 10 यू एस डॉलर में चीनी उत्पादकों को मात्र 1 यू एस डॉलर ही मिलता है बाकी का 9 यू एस डॉलर ट्रांसपोर्ट, डिस्ट्रीब्यूशन, विज्ञापन तथा अन्य खर्चों के साथ ही बिचौलियों के पास जाता है। मेरे विचार से मेटेल कंपनी को सबसे ज्यादा मार्जिन जाता है। अब दूसरा उदाहरण देखें – आप यू एस गैप स्टोर में जाते हैं और वहाँ आप एक शर्ट खरीदते हैं; इसके लिए आपको 25 यू एस डॉलर की कीमत चुकानी होती है। यह शर्ट भी चीन की ही बनी होती है। इस 25 यू एस डॉलर में से चीनी विनिर्माता को मात्र 2 यू एस डॉलर जाता है। आपने चीन के जीडीपी के प्रतिशत के रूप में निर्यात में लगातार वृद्धि के बारे में जरूर सुना होगा। चीन ने निश्चित तौर पर निर्यात में काफी बढ़त दर्ज की है किंतु यदि इसे वैल्यू एडिशन के तौर पर देखें तो आप पाएंगे कि जीडीपी अनुपात एक विचित्र स्थिति देता है जिसमें न्यूमरेटर ग्रॉस वैल्यू के रूप में है जबकि डिनॉमिनेटर वैल्यू एडेड के रूप में।

यदि आप वास्तव में इसे वैल्यू एडिशन के रूप में देखेंगे तो पाएंगे कि चीन का निर्यात निष्पादन बहुत अधिक नहीं है। काफी समय से मैं इस तथ्य पर विचार कर रहा हूँ कि यदि 10 यू एस डॉलर की बॉर्बी डॉल और 25 यू एस डॉलर की शर्ट का एक बहुत छोटा सा हिस्सा ही चीन को मिलता है तो आखिर बाकी बचा हुआ मार्जिन कहां जाता है? व्यापार से उत्पन्न लाभों को देशों के बीच कैसे बांटा जाता है? अपने सह लेखकों मुखर्जी तथा सुमागरी के साथ मिलकर मैंने वैश्वीकरण के जुड़े इस बिचौलिया मार्जिन का एक सैद्धांतिक मॉडल विकसित किया है। यह पेपर अमेरिकन जनरल ऑफ इकोनॉमिक्स, माइक्रो-इकोनॉमिक्स के आगामी अंक में प्रकाशित हो रहा है। समस्या यह है कि गरीब देशों में विनिर्माताओं अथवा सेवा प्रदाताओं द्वारा ब्रांड नेम अर्जित करना तथा गुणवत्ता और समय पर सुपुर्दगी के बारे में अपनी छवि बनाना काफी दुष्कर, अत्यधिक समय लेने वाला और दु:साध्य कार्य है। जबकि मार्केटिंग के लिए यह दोनों ही बहुत जरूरी हैं। खासकर अंतरराष्ट्रीय बाजारों में मार्केटिंग के लिए यह उत्पादन की प्रतिस्पर्धी लागत, जिस पर पुराना व्यवसाय सिद्धांत अधिक जोर देता है, से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

अभिजीत बनर्जी तथा ईशर डुफ्लो ने क्वार्टरली जनरल ऑफ इकोनॉमिक्स, 2000 में एक पेपर प्रकाशित किया था, जिसमें यह उल्लेख किया गया है कि भारतीय सॉफ्टवेयर उद्योग के लिए भी शुरूआती दौर में अपनी छवि व प्रतिष्ठा बनाने में काफी कठिनाइयां हुई थीं। छवि निर्माण में पैसा लगता है और यही छोटे विक्रेताओं तथा गरीब देशों के विरूद्ध काम करता है। हालांकि मैंने आपको बिचौलिया मार्जिन संबंधी उदाहरण केवल मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र से दिया है किंतु यह कृषि क्षेत्र में भी विद्यमान है। जो कॉफी आप पीते हैं उसकी आपके द्वारा अदा की गई कीमत का बहुत छोटा हिस्सा ही असली उत्पादक को जाता है।

यह एक सामान्य नीतिगत मुद्दा है। कई लोग व्यापार में एकाधिकार रखनेवाली इन मल्टीनेशनल कंपनियों (एंटी-ट्रस्ट) द्वारा लिए जाने वाले इस उच्च मार्जिन को लेकर क्रुद्ध हो सकते हैं, जो उचित ही है किंतु मेरे विचार से उन्हें दरअसल इस अंतरराष्ट्रीय अविश्वासी (एंटी-ट्रस्ट) कार्य के लिए क्रुद्ध होना चाहिए न कि इस व्यापार विरोधी (एंटी-ट्रेड) कार्य के लिए। मेरे विचार से अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इन निषेधात्मक व्यवसाय पद्धतियों के विरूद्ध गंभीर उपायों सहित गरीब देशों के उत्पादों की गुणवत्ता को प्रमाणित करने के लिए गंभीर प्रयास किए जाने की आवश्यकता है। इसके साथ ही विश्व व्यापार संगठन के तत्वावधान में एक अंतरराष्ट्रीय एंटी-ट्रस्ट जांच एजेंसी की भी स्थापना की जानी चाहिए।

कुछ लोग यह पूछ सकते हैं कि आखिर उस एंटी-मोनोपोली अंतरराष्ट्रीय एजेंसी बनाने का क्या लाभ जिसे आप अंतरराष्ट्रीय सरकार न होने के चलते कार्यान्वित ही नहीं कर सकते हैं। मेरे विचार से किसी प्रतिष्ठित अंतरराष्ट्रीय एजेंसी से जांच करवाना भी महत्वपूर्ण हो सकता है और इससे घरेलू प्रतिस्पर्धा आयोगों जैसा कि भारत में भी है, को भी मदद मिलेगी। घरेलू प्रतिस्पर्धा आयोग इन आंकड़ों का उपयोग कर उन मामलों का पता लगा सकते हैं जिनमें अंतरराष्ट्रीय रिटेल में एकाधिकारी दुष्प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। मेरे विचार से यह कार्य बहुत महत्वपूर्ण है।

मैंने कई ऐसे लोगों से चर्चा की है जो पूरी तरह वैश्वीकरण के खिलाफ हैं। मैंने उनसे यह जानना चाहा कि आखिर वैश्वीकरण से उन्हें क्या शिकायत है? मुझे उनसे जो जानकारी मिली वह कुछ तो अंतरराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा की जा रही अंधाधुंध मूल्य निर्धारण प्रक्रिया से संबंधित थी और कुछ जिसका मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ, उन लोगों के बारे में थी जिनकी वैश्वीकरण के चलते नौकरियाँ चली गई थीं और उनके लिए कोई भी सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध नहीं थी।

अंत में मैं यह कहना चाहूँगा कि मेरे व्याख्यान का मुख्य उद्देश्य उन बिंदुओं को उजागर करना था जिनके बारे में कुछ नए प्रमाण तो उपलब्ध हैं किंतु भारत में उन पर अभी और काम किया जाना है ताकि नीतिगत चर्चाओं में यह मुद्दे आ सकें। मैं यह भी चाहूँगा कि यदि आप वास्तव में व्यापार और विकास पर बात करना चाहते हैं तो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के जवाब ढूँढ़ने के लिए माइक्रो स्तर पर काफी गहन अनुभवजन्य अध्ययन होने चाहिए।

वक्ता के बारे में

प्रो. प्रणब बर्धन कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले के ग्रेज्युएट स्कूल में अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष हैं। प्रो. प्रणब बर्धन ने प्रेसीडेंसी कॉलेज, कोलकाता तथा कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी, यूके में शिक्षा प्राप्त की। बर्कले ज्वाइन करने से पहले आप एम.आई.टी., भारतीय सांख्यिकी संस्थान तथा दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में संकाय सदस्य रह चुके हैं। आप ट्रिनिटी कॉलेज, कैम्ब्रिज तथा सेंट कैथेरीन कॉलेज, ऑक्सफोर्ड में विजिटिंग फेलो तथा लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में बी पी सेंटीनियल प्रोफेसर भी रहे हैं। आप डेवलपमेंट इकोनॉमिक्स जर्नल के *1985* से 2003 तक मुख्य संपादक भी रहे हैं। आपके पसंदीदा शोध क्षेत्रों में संस्थागत तथा राजनैतिक विकास का अर्थशास्त्र, अंतरराष्ट्रीय व्यापार तथा वैश्वीकरण आदि हैं। आपने लगभग *12* पुस्तकों की रचना की है तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपके *150* से अधिक लेख प्रकाशित हुए हैं। आपने *12* पुस्तकों का संपादन भी किया है। आपकी हालिया प्रकाशित दो पुस्तकें - *स्केर्सिटी, कॉनफ्लिक्ट एंड कोऑपरेशन* (एम आई टी प्रेस) तथा *अवेकनिंग जायंट्स, फीट ऑफ़ क्ले: असेसिंग द राइज ऑफ़ चाइना एंड इंडिया* (प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस) हैं। आप *फाइनेंशियल टाइम्स, बिजनेस स्टैंडर्ड, हिंदुस्तान टाइम्स* तथा *आनंद बाजार पत्रिका* जैसे अखबारों के लिए विशिष्ट लेख तथा *प्रोजेक्ट सिंडिकेट* और *येल ग्लोबल ऑनलाइन* जैसे ब्लॉगों के लिए भी लेख लिखते रहे हैं।

अब तक प्रकाशित किए गए वार्षिक व्याख्यानों की सूची

1986 - **डॉ. दीपक नय्यर**
सेवाओं का अंतरराष्ट्रीय व्यापार -
विकासशील देशों के लिए निहितार्थ

1987 - **डॉ. पार्थ दासगुप्त**
अर्थव्यवस्थाओं का संसाधन आधार

1988 - **डॉ. आबिद हुसैन**
भारतीय आयोजना में विदेश व्यापार नीति

1989 - **एम. नरसिंह**
वित्तीय बाज़ारों का भूमंडलीकरण और भारत

1990 - **सिडनी डेल**
1990 के दशक के कार्यों के लिए विश्व बैंक में
सुधार करना

1991 - **प्रणब बर्धन**
सरकार और गतिशील तुलनात्मक लाभ

1992 - **डॉ. (सुश्री) इशर जज अहलूवालिया**
भारत की व्यापार नीति और औद्योगीकरण

1993 - **लार्ड मेघनाद देसाई**
पूँजीवाद, समाजवाद और भारतीय अर्थव्यवस्था

1994 - **डॉ. विजय जोशी**
भारत की समष्टिगत आर्थिक नीति और
उसके आर्थिक सुधार

1995 - **डॉ. स्टेनले फिशर**
आर्थिक सुधार और गरीब

1996 - **रजत गुप्ता**
उत्पादकता के नए शिखर पर पहुँचना

1997 - **डॉ. पेड्रो आस्पे**
निजीकरण और भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ-
मेक्सिको के अनुभव

1998 - **चार्ल्स एच. डाल्लारा**
एशियाई मुद्रा संकट के अनुवर्ती उभरते हुए
बाज़ारों की संभावना और भारत

1999 - **डॉ. इसुके सकाकीबारा**
भारत और वैश्विक व्यापार प्रणाली

2000 - **डॉ. इसुके सकाकीबारा**
21 वीं शताब्दी में एशिया -
भारत और जापान की भूमिका

2001 - **प्रोफेसर निकोलस स्टर्न**
भारत में निवेश, विकास तथा गरीबी उन्मूलन के
लिए वातावरण बनाना

2002 - **डॉ. पर पिंस्टुप-एंडरसन**
वैश्विक जगत में भारतीय कृषि

2003 - **जेम्स बी. बोल्जर, ओ एन ज़ेड**
कृषि में अंतरराष्ट्रीय व्यापार : उभरते परिदृश्य

2004 - **डॉ. एडुआर्डो अनिनात**
विकासशील देशों के परिदृश्य में व्यापार और वित्तीय क्षेत्र में
भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ

2005 - **रूबिंस रिक्यूपेरो**
व्यापार और विकास :
विकासशील देशों के लिए चुनौतियाँ

2006 - **सर सुमा चक्रबर्ती**
व्यापार और विकास में राष्ट्र की भूमिका

2007 - **डॉ. डेविड ह्यूम**
समावेशी वैश्वीकरण :
चिरकालिक गरीबी को दूर करना

2008 - **श्री केमल दर्विश**
विश्व अर्थव्यवस्था की नई संरचना का परिदृश्य

2009 - **श्री जस्टीन यिफु लिन**
कींस के अर्थशास्त्र से परे-विकास के प्रोत्साहन

2010 - **डॉ. सुपाचई पैनिचपाकड़ी**
आर्थिक अभिशासन का पुनर्निर्माण :
टिकाऊ वृद्धि तथा विकास का एजेंडा

2011 - **प्रो. यु यांगडिंग**
चीन की अर्थव्यवस्था का पुनर्संतुलन

2012 - **प्रो. जगदीश भगवती**
विश्व व्यापार प्रणाली में परिवर्तन:
भारत के विकल्प

''एक्ज़िम बैंक का लक्ष्य विदेश उन्मुख कंपनियों के अंतरराष्ट्रीयकरण प्रयासों में अभिवृद्धि करने के लिए उन्हें उद्दिष्ट उत्पादों और सेवाओं की व्यापक श्रेणी प्रदान करके उनके साथ वाणिज्यिक रूप में व्यवहार्य संबंध विकसित करना है।''

एक्ज़िम बैंक की दृष्टि